तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पंतजी को न करनी थी। मंडूक की तरह पंतजी पद-लघुता और पद-गुरुता के ज्ञान से विवर्जित नहीं। 'पल्लव' की छाया में जो मुझे भी ताप से शीतल करने की पंतजी ने सहृदयता दिखलाई है, और अपने इस उपकार का कहीं उल्लेख भी अपने प्रेरित पत्र में नहीं आने दिया. उस समय मुझे मालूम न था कि इसके लिये कभी छापे के अक्षरों में धन्यवाद देने की मुझे आवश्यकता पड़ेगी। 'पल्लव' के 'प्रवेश'-भाग में कविता, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छंद छंद, बँगला की कविता, 'निराला' के छंद, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि जिन अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिंदी के दरिद्र भांडार में लाने की पंतजी ने चेष्टा की है, उनकी अलग-अलग समालोचना करने के पहले मैं एक वह विषय उठा रहा हूँ. जिसकी कहीं चर्चा भी 'प्रवेश' के ५४ पृष्ठों में उन्होंने नहीं की।

इस विषय का उन्हीं से घनिष्ठ संबंध है। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन-प्रकारेण अच्छी ही का है, परंतु इस कारीगरी का साँचा उन्हें कहाँ मिला, किस तरह वह अपने लिये इतने अच्छे कवि हो गए, कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्मसिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक

विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न ही छोड़ रक्खा है। पहले इन अव्यक्त विषयों पर ही मैं प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। पंतजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभोमंडल में गति-रहित निराधार ही छोड़ रखना अनुचित-सा प्रतीत हो रहा है।

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे 'तत्सत्' कहा। वह आजकल की विश्व-भावना, विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं कराना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै बिधि नाना—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्र-कारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतों के जड़पिंड का आश्रय लिए हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर में तन्मय रहते हैं—इन्हें लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हें भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रिया-शील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही हैं, कर्ता वही है,

और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड़ शरीरवाले कवि की आत्मा दिखाई पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक पंतजी में कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन में सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की, धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ-ही-साथ, जिस जाति और वंश में वह पैदा हुए—उनके संस्कारों को लिए हुए, वह बढ़ने लगे, पढ़ने लगे, अपने व्यक्तित्व पर ज़ोर देकर बड़े होने लगे। उन्हें अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उनके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उन्हें मालूम हुआ, उनकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आई है, वह ब्रह्म है, जहाँ अब उनकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होंगे, वह केंद्र भी ब्रह्म ही है, जीवात्मा का संयोग लिए हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन हैं, और है भी यही यथार्थ उत्तर, क्योंकि जब एक के सिवा दूसरा है

ही नहीं, तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाए, इस-लिये ही कहा है, नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने के लिये जाकर गल गया, ख़बर देने के लिये न लौटा।

अस्तु। इस तरह पंतजी की आत्मा में कवि होने की—सृष्टि की रुचि का कारण नहीं बतलाया जा सकता, परंतु रुचि हुई अवश्य उस ब्रह्मरूपी पंतजी की अनादि सत्ता में और कविता की कारीगरी, अक्षरों, शब्दों और भावों के चित्रों को ब्रह्म की शक्ति, माया धारण करने लगी, प्रकृति में अनेक प्रकार की छायाएँ पड़ने लगीं। स्मृतियाँ यही हैं अनेक वस्तुओं की, अनेक भावों की। जड़ की ही स्मृति होती है। इन स्मृतियों को जिस तरह पहले प्रकृति धारण करती है, उसी तरह फिर निकालती भी है। बच्चे को 'क' सिखाइए, जब लिखकर 'क' के चित्र की धारणा वह कर लेगा, प्रकृति में 'क' की छाया पड़ जायगी, स्मृति दुरुस्त हो जायगी, तभी वह आप-से-आप 'क' लिख सकेगा।

पंतजी के पल्लव में इतनी ही कमी है। उन्होंने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला है। किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया-चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होंने नहीं लिखा। यह शायद इसलिये कि इससे महत्ता घट जायगी, लोग समा-दर कम करेंगे। दूसरों की आँखों में धूल झोंककर, दूसरों को दबाकर बड़े होने की आदत पश्चिम की ही शिक्षा से मिलती है, यहाँ तो पहले ही बाबाआदम की बात सुझाकर शिष्य को

सत्य ब्रह्म का यंत्र बना देते हैं, उसके अहंकार की क्षुद्र सीमा को तोड़कर उसमें पूर्णत्व भर देते हैं, उसे यंत्र बनाकर कर्ता और शिष्य बनाकर गुरु कर देते हैं, जड़त्व लेकर चेतना और ममत्व लेकर प्रेम देते हैं। वह अंध योरप की तरह नहीं होता, लक्ष्य-भ्रष्ट ग्रह की तरह उसकी गति अनियंत्रित नहीं होती।

यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पंतजी ने नहीं लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके—

"गंध-मुग्ध हो अंध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार"

—पंतजी

"तोमार मदिर गंध अंध वायु बहे चारिभिते"

—रवींद्रनाथ

"...............अतल के
वतलाती जो भेद अपार"

—पंतजी

"अतल रहस्य येन चाय बलिबारे"

—रवींद्रनाथ

"नीरव-घोष-भरे शंखों में"

—पंतजी

"नीरव सुरेर शंख बाजे"

—रवींद्रनाथ

"मेरे आँसू गूँथ"

—पंतजी

"गँथेछि अश्रुमालिका"

—रवींद्रनाथ

"शस्य-शून्य वसुधा का अंचल"

—पंतजी

"शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल"

—रवींद्रनाथ

"शस्यशीर्षराशि धरार अंचलतल भरि"

—रवींद्रनाथ

"विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल"

—पंतजी

"............विकसित विश्व वासनार
अरविंद... ... ..."

—रवींद्रनाथ

"आलोडित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन।"

—पंतजी

"तरंगित महासिंधु मंत्रशांत भुजंगेर मत
पड़ेछिल पदप्रांते उच्छ्वसित फणा लक्षशत
करि अवनत"

—रवींद्रनाथ

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल-गान"

—पंतजी

Then, sing ye birds, sing, sing a joyous song,
—Wordsworth.

उदाहरण के लिये इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। कहीं-कहीं जो थोड़ा-सा रूपांतर पंतजी ने किया है, वह केवल अपने छंद की सुविधा के लिये। पंतजी चौर्य-कला में निपुण हैं। वह कभी एक पंक्ति से अधिक का लोभ नहीं करते। एक पंक्ति क़िसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी में कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिये वैसा ही कुछ गढ़कर बैठा दिया। इस तरह की सफ़ाई के पकड़ने में समालोचकों को बड़ी दिक़्क़त होती है। उधर कवि को अपनी मौलिकता की विज्ञापनबाज़ी करने में कोई भय भी नहीं रहता। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' कविता के चार उदाहरण मैंने उद्धृत किए हैं, जो नंबर १, ५, ६ और ७ में आए हैं। उनमें पहला और पाँचवाँ उदाहरण

पंतजी की 'अनंग' कविता में है और छठा, सातवाँ उदाहरण उनकी 'परिवर्तन' कविता में !

दूसरे के भाव लेकर प्राय: सब कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। परंतु वहाँ हरएक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की, उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की, चेष्टा की है। पंतजी में यह बात बहुत कम है। कहीं-कहीं तो दूसरे के भावों को बदलकर, उसमें कुछ अपना हिस्सा मिलाकर, चमत्कार दिखलाने में इन्हें अच्छी सफलता हुई है, परंतु अधिकांश स्थलों में सुंदर-से-सुंदर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

> "आपन रूपेर राशे
> आपनि लुकाए हासे"
>
> —रवींद्रनाथ

> "रूप की राशि राशि वह रास
> दृगों की यमुना श्याम"
>
> —पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवींद्रनाथ की दोनो पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग।

यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और यह केवल इसलिये कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भांडार के लूटनेवाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ करते हैं. रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती है —" इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी की "रूप का राशि राशि वह रास"—पंक्ति कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें? उनकी पंक्ति में तो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और, थोड़ी देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाय, तो दूसरी पंक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है— "दृगों की यमुना श्याम", इसमें दुःख है, जो "रूप के रास" से बैर करने लगता है। यदि दृगों को ही यमुना मान लें, तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती; क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रूप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप-राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक संगठन से जो भाव तैयार होता है, उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर।"

—पंतजी

'पल्लव' के 'प्रवेश' में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियों की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

"श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।"

—रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव की हत्या की गई है! पंतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पंक्तियों का भाव, परंतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की अप्सरा कुछ और नवीन नृत्य दिखलाती है। अभी पूर्वोक्त पद्य अधूरा है। वह अंतिम अंश इस प्रकार है—

"शरम-विमला कुसुम-रमणी
फिराबे आनन शिहरि अमनि,
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे;

भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पाबे !"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की पंक्तियों का अर्थ बिलकुल साफ़ है, यहाँ तक कि पद्य की लड़ियों को बराबर कर लीजिए, गद्य बन जायगा, कहीं परिवर्तन करने की ज़रूरत न होगी। पंतजी की नवोढ़ा बाल लहर के अचानक उपकूलों के ढिंग रुककर सरकने में कोई विशेष भाव-सौंदर्य मुझे नहीं मिला, परंतु जहाँ से यह भाव लिया गया है, रवींद्रनाथ की उन पंक्तियों में अवश्य सौंदर्य की उभय-कूल-प्लाविनी सरिता बह रही है। रवींद्रनाथ की प्रथम चार पंक्तियों का अर्थ—

"मेरे दोनो श्यामल कूलों में जगह-जगह पुष्प विकसित होंगे, और क्रीड़ा के छल से लहरियाँ पास आ अचानक चूम-कर भग जायँगी।"

एक तो पंतजी के छंद के छोटे-से घेरे में ये कुल भाव आ ही नहीं सके, दूसरे, मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन और छंद की रक्षा के लिये कुछ शब्दों को विवश होकर उन्होंने बदल दिया है, जैसे रवींद्रनाथ की लहर फूल को अचानक चूमकर भागती है, और पंतजी की लहर अचानक प्रसूनों के ढिंग रुककर सत्वर सरकती है। अवश्य ही रवींद्रनाथ के 'पलाए जाबे' का शब्द-चित्र पंतजी ने 'सत्वर सरकती' से प्रकट किया है, 'सत्वर'-शब्द के बढ़ने पर भी पंतजी की लहर 'पलाए जाबे' का धुल

चंचल सौंदर्य नहीं पा सकी। 'सरकती' के 'सर' अंश से लहर के चलने का आभास मिलता है, परंतु अंतिम 'कती' अंश उसके कुछ बढ़ने के पश्चात् उसे पकड़कर रोक लेता है, जिससे Additional (संयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नहीं सकता, बल्कि खुद ही कुछ दूर बढ़ता चला जाता है। यहाँ के शब्द-चित्र से हास्य-रस की अवतारणा हुई है, जैसे 'सरकती' से लहर कुछ चलकर रुक गई हो, और 'सत्वर' उसे घसीटने की चेष्टा कर (हाथ-संबंध) छूट जाने के कारण, खुद ही कुछ दूर पर रपटता हुआ ढेर हो गया हो। दूसरे, 'सरकने' का मुहावरा भी बहुत दूर तक चलने का नहीं, 'कुछ हटना, फिर स्थिति' जोंक की चाल की तरह है। रवींद्रनाथ अपनी लहर के आने का कारण बतलाते हैं 'खेला-छले', और इससे सरल-सौंदर्य शिशु के हास्य की तरह प्रदीप्त हो उठता है। पंतजी ने अपनी लहर के आने का कोई कारण नहीं बतलाया, शायद छंद के छोटे-से कमरे में इतने शब्दों को जगह नहीं मिल सकी। रवींद्रनाथ के छंद में जो सुखद प्रवाह मिलता है, पढ़ने में जिस तरह के आराम की अनुभूति होती है, वे बातें पंतजी के छंद में नहीं। रवींद्रनाथ के शब्दों में कर्कशता नहीं, पंतजी के शब्द छंद की जीर्ण शाखा के सूखे हुए पत्ते हो रहे हैं।

दूसरे, संपूर्ण भाव को न अपनाने के कारण, सौंदर्य के सिंधु को ही पंतजी ने छोड़ दिया है। वास्तव में लोकोत्तरानंद

रवींद्रनाथ की पूर्वोक्त पंक्तियों के बाद मिलता है। पीछे इन पंक्तियों का भी उद्धरण दिया जा चुका है।

प्रकृति की एक साधारण-सी बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवींद्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है। 'नदी की लहर तट की पुष्पित डाल के पुष्प को स्पर्श कर बहती चली जाती है।" इस पर कवि लहर की सजीवता, उसके आने का कारण क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव में लहर की प्रकृति-सिद्ध पलायन-चंचलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और, इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरम 'को वेदांत के लोको-त्तरानंद में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर कली खुलकर नदी में गिर जाती है।" पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। वहाँ वह पुष्प पुरुष-पुष्प था। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका चूमकर भग जाने के पश्चात् दूसरी कली को, जो च गई थी, कवि फूल की तरुणी कामिनी कल्पना क लज्जा, कंपन, स्खलन और बहकर असीम के अंकन-सौंदर्य से कविता में स्वर्गीय देता है।

"शरम-विमला कुसुम-रमणी

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है", इसलिये कि अभि-सारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिरावे आनन शिहरि अमनि"

'शिहरि'=काँपकर (यह कंपन प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ फूल के काँप उठने से लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लेगी। (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायक से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है। उधर डाल के हिलने, हवा के लगने, से कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है।)—

"आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे।"

"अंत में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी।" (डाल के हिलने से कली का वृंत से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प तरुणी भार्या आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर रु ऊपर, वक्ष में, गिर जायगी।)—

"भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पावे !"

वह बहती हुई रोएगी, क्या कहीं उसे किनारा

'कोथाय' के बीच, उत्थान और पतन के

स्वर-हिलोर में बहती हुई उस कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल में बहाकर कवि अकूलता के साथ-साथ सीमा-रहित आनंद में पाठकों को भी मग्न कर देता है।]

यहाँ एक बात और। रवींद्रनाथ की इन अंतिम पंक्तियों के 'शिहरि' शब्द पर ध्यान रखकर पंतजी की भी उद्धृत उन चार पंक्तियों के बाद का अंश देखिए—

"अकेली-आकुलता-सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!"

रवींद्रनाथ की कविता में भाव की लड़ी टूटती नहीं, उनकी कुसुम-कामिनी के सिहरने का कारण आगे बतलाया जा चुका है, परंतु यहाँ पंतजी का ही कृश-गात सिहर उठता है! रवींद्रनाथ की कुसुम-कामिनी असहाय, निस्सीम में बह जाती है, और पंतजी के पैर ठहर जाते हैं! पता नहीं, नवोढ़ाबाल लहर के रुककर सरकने से पंतजी को इतना कष्ट क्यों होता है। शायद यहाँ भी पाठकों को अपनी तरफ़ से कुछ नई कल्पना करनी पड़े, जैसे लहर का सरकना देखकर कवि को अपनी प्रेयसी की याद आई, मिलना असंभव जान पड़ा, विरह-कृश शरीर सिहर उठा, पैर रुक गए। सौंदर्य के नंदन वसंत में निर्गंध पुष्प ही पंतजी के हाथ लगे। इस विषय पर

बहुत ज़्यादा लिखकर प्रसंग से अकारण अलग हो जाना है। पंतजी का एक उदाहरण और—

"सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार"

—पंतजी

"जखम सघन गगन गरजे"

—डी० एल्० राय

'तमसाकार' और 'भीम' ये ही दो शब्द पंतजी की पंक्तियों में अधिक हैं, कारण स्पष्ट है, छंद की पूर्ति। तारीफ़ तो यह कि यहाँ, इस भाव में, गुरु और शिष्य दोनो ही प्राकृतिक सत्य से अलग हो रहे हैं, दोनो ही के 'आकाश' गरजते हैं, मेघ गौण हो गया है। परंतु सत्य-चित्र देखिए—मेघ ही गरजते हैं—

"घन घमंड गरजत नभ घोरा"

—तुलसीदास

"गुरु गुरु मेघ गुमरि गुमरि गरजे गगने गगने"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की—

"अपने ही अश्रु-जल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है।"

"जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदों में गत बजा रही हो।"

"स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं।"

"अपनी ही कंपन में लीन।"

"अपनी ही छवि से विस्मित हो जगती के अपलकलोचन।"

"चारु नभचरी-सी वय-हीन अपनी ही मृदु-छवि में लीन" आदि।

इस तरह की 'अपनी ही' पर जोर देकर सौंदर्य की अभि-व्यक्ति पर इतरानेवाली पंक्तियाँ भी मौलिकता की दीप-मालिका में उधार के तेल की रोशनी से प्रदीप्त हो रही हैं—'अपने ही' या 'अपनी ही' के प्रवर्तक भी रवींद्रनाथ ही हैं, जिन्होंने इसे अँगरेजी का प्रकाशन-ढंग देखकर ग्रहण किया जान पड़ता है। रवींद्रनाथ के उदाहरण—

"आपनाते आपनि विजन,"

"आपन जगते आपनि आछिस एकटी रोगेर मत,"

"आंधार लाइया हताश होइया आपने आपनि मिशे,"

"मलिन अपना पाने,"

"आपनार स्नेहे कातर बचन कहिस आपन काने," आदि-आदि।

पंतजी की कविता में पंखों की फड़क प्रायः सुनाई पड़ती है। जैसे—

"अपने छाया के पंखों में,"

"फड़का अपार पारद के पर,"

"पंख फड़काना नहीं थे जानते," आदि।

अँगरेजी-साहित्य से इस भाव की भी आमदनी हुई है। बंगाल के कवि इसे अनेक तरह से प्रकट कर चुके हैं—

"आयरे बसंत, ओ तोर किरण माखा पाखा तुले"

—डी० एल्० राय

"आंधार रजनी आसिबे एखनि मेलिया पाखा"

—रवींद्रनाथ

"अति धीरे-धीरे उठिबे आकाशे लघु पाखा मेलि"

—रवींद्रनाथ

"थर-थर करि काँपिबे पाखा"

—रवींद्रनाथ

जगह ज्यादा घिर जाने के भय से अँगरेज कवियों के उद्धरण मैं न दे सका। और, यहाँ उद्धरण के लिये मेरे पास साधन भी कम हैं। देहात है, आवश्यक पुस्तकें यहाँ नहीं मिलतीं, स्मरण और कुछ ही पुस्तकों की सहायता से मित्रों के आग्रह की पूर्ति कर रहा हूँ। पंख का भाव लेकर पंख-प्रधान वाक्य में कुछ परिवर्तन कर देने पर भी कवि-कल्पना का मौलिक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से प्रायः सब कवियों को उधार लेना पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन इस समालोचना के अंतिम अंश में करूँगा। उदाहरणार्थ शेली का—

"Sungirt city, Thou hast been Ocean's child."—

पेश करता हूँ। कविवर रवींद्रनाथ ने अपनी एक कविता में, जिसका उद्धरण मैं पुस्तक के अभाव से न दे सका, पृथ्वी को समुद्र की कन्या कल्पना कर बहुत कुछ लिखा है। उनकी कविता में समुद्र-माता बाँहें फैलाकर आती, अपनी कन्या पृथ्वी को चूमती तथा अनेक प्रकार से आदर करती है।

'माता-पुत्री' के एक मूल-भाव की प्राप्ति के पश्चात् तदनुकूल अनेक भावों की कल्पना कर लेना बहुत आसान है। इस तरह की कल्पना को मैं मौलिक नहीं मानता। जिस कल्पना का मेरुदंड मौलिक नहीं, समालोचक की दृष्टि में वह 'घड़ा' देखकर 'हंडा' गढ़ने की तरह मौलिक है।

कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी काशी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों को याद आई। साहित्य की मही वीर-विहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ी। पहले के एक पत्र से सूचना मिल चुकी थी कि खड़ी बोली का प्रथम कविता की स्वर्ण-लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिये 'सरस्वती' के सुकवि-किंकर महाशय ने छायावाद के कवियों की लांगूलों में आग लगा दी है। कहते हैं, वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे ढहाते थे, अपने कर्ण-कटु शब्दों से उन्हें हैरान करते थे, और सबसे बड़ा पाप, सोते समय उनकी नासिका के छिद्र में लांगूल करके उन्हें जगा देते थे। अवश्य प्रकाश देखकर प्रसन्न होने से पहले अपने सुख और निद्रा के लिये मोहवशात् क्रोधांध हो जाना स्वाभाविक ही है—कुछ दिनों बाद मालूम हुआ, लांगूलों की प्रज्वलित वह्नि की शिखाएँ उत्तरोत्तर परिसर प्राप्त करती जा रही हैं। सोचा—यदि इस लंका

में पवन-प्रिय पुच्छ-पावक को रावण, कुंभकर्ण, अतिकाय, महोदर और वज्रदंष्ट्रा आदि के गृहों के सिवा विभीषण की भीषण खाल में छिपे किसी कोमल कल्पना-प्रिय सहृदय सज्जन का 'राम-नाम-अंकित गृह' नहीं मिला, तो अवश्य यह अनर्थ ही हुआ; क्योंकि इस तरह तो कविता-साहित्य के लंकाकांड की जड़ ही नहीं जम पाती, न भविष्य में हिंदी-साहित्य की रामायण के लिखे जाने की आशा ही सुदृढ़ होती है। निश्चय हुआ कि वर्तमान कविता की सीता के उद्धार के लिये अभी लांगूलों में अग्नि-संयोग से श्रीगणेश ही हुआ समझना चाहिए। यद्यपि इस समय भी लंका, पुलस्त्य-कुल, विभीषण और अशोक-वाटिका आदि वहाँ के संपूर्ण दृश्य और प्राणी लांगूलों के अनल से निःसृत धूम की छाया में छायावाद की कविता की तरह अस्पष्ट-रूप नज़र आ रहे हैं। आश्चर्य है, न अब तक किसी 'कविराय' ने स्याही के समुद्र में लांगूल-अनल की ज्वाला प्रशमित की, न उनके विरोधियों ने ही 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि' की कलकंठ-ध्वनि धीमी की।

मैं सोचता हुआ बाबू शिवपूजनसहायजी के डेरे पर पहुँचा। वहाँ वर्तमान कविता-साहित्य की बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वहीं ३० जुलाई, १९२७ के 'मतवाला' में किसी 'युगल' महाशय द्वारा की गई छायावाद के कवियों की प्रशंसा में पंतजी का यह पद्य उद्धृत पाया। अवश्य

'पल्लव' के साथ इसका संबंध नहीं है। शायद यह पंतजी की इधर की रचना है—

"प्रिये, प्राणों की प्राण!
अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकंपित-मृदु-उर, पुलकित गात;
सशंकित ज्योत्स्ना - सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृक्-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता में सी छिपी अजान;
लाज की छुईमुई-सी म्लान!
प्रिये, प्राणों की प्राण!"

इसे पढ़ते ही मुझे रवीन्द्रनाथ की उर्वशी की ये पंक्तियाँ याद आ गईं—

"द्विधाय जड़ितपदे कंप्रवक्षे नम्रनेत्रपाते
स्मितहास्ये नहीं चल सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते।"

द्विधाय=सशंकित (ज्योत्स्ना-सी चुपचाप)
जड़ितपदे=जड़ित पद
कंप्रवक्षे=विकंपित मृदु उर
नम्रनेत्रपाते=नमित-पलक-दृक्-पात
स्मितहास्ये=मधुरता में सी छिपी अजान

नहीं चल वासर शय्याते=पास जब आ न सकोगी प्राण
सलज्जित=लाज की छुईमुई-सी म्लान

कहीं कुछ बढ़ा दिया गया है, कहीं रवींद्रनाथ ही के शब्द रख दिए हैं। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' के संबंध में बड़े-से-बड़े समालोचकों ने लिखा है, 'उर्वशी' संसार के कविता-साहित्य में सौंदर्य की एक सर्वोत्तम सृष्टि है। 'उर्वशी' की पंक्तियाँ पंतजी के अनेक पद्यों में आई हैं। यह दिखलाया जा चुका है। इस तरह के अपहरण का फल भी कहा जा चुका है कि इससे भाव की लड़ी टूट जाती है, कविता का प्रकाशन-क्रम नष्ट हो जाता है।

"मा मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार ;

❀ ❀ ❀

तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार।"

—पंतजी

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज
दुखेर अश्रु-धार।
जननी गो, गांथबो तोमार
गलार मुक्ताहार।

❀ ❀ ❀

तोमार बुके शोभा पावे आमार

दुखेर अलंकार ।"

—रवींद्रनाथ

'जननी' की जगह पंतजी ने 'मा' संबोधन किया है। 'गलार मुक्ताहार' की जगह 'मंजुल हृदय-हार' आया है। 'दुखेर अश्रु-धार' की जगह 'जीवन की हार' आई है। 'तोमार बुके शोभा पावे आमार दुखेर अलंकार' की जगह 'तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल श्रम-जलमय मुक्तालंकार' हो गया है।

रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' की इस कविता के साथ यदि पंतजी की उद्धृत कविता की समालोचना करूँगा, तो अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि होगी। अतएव जहाँ-जहाँ पंतजी ने परिवर्तन किया है, उस-उस स्थल के परिवर्तन के कारण सौंदर्य, सफलता, निष्फलता आदि छोड़ दिए गए। मेरे विचार से पंतजी के कुल 'विनय' पद्य से और रवींद्र-नाथ की 'गीतांजलि' के १०७ गान से संपूर्ण समता है। वह परिवर्तन परिवर्तन नहीं। यदि हिंदी-संसार में युक्ति को कुछ भी मूल्य दिया जाता है, तो मैं कहूँगा, समालोचना होने पर युक्ति आदरणीय होगी।

"पंतजी की कविता में सोने का बड़ा खर्च है।" एक दूसरे कवि ने कहा था, जब मैं पंतजी के संबंध में उनसे वार्तालाप कर रहा था। उनके उदाहरण—

"मेरा सोने का गान।"

"वह सुवर्ण-संसार"—आदि-आदि ।

यह भी पंतजी की अपनी चीज़ नहीं । बंगाल के कवि—

"आजि ए सोनार साँझे"

"सोनार वरणी रानी गो"

"आमार सोनार धाने गियाछे भरि"—आदि-आदि से

अपनी कविता-सुंदरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णाभरण पहना चुके हैं । और, उनके साहित्य में सोने की आमदनी हुई है विलायत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से ; जैसे—

"In the golden lightning
of the sunken sun"

पंतजी ने हाथ बढ़ाकर बुलाने के सौंदर्य की कल्पना में—

"बढ़ाकर लघु लहरों से हाथ"

"बढ़ाकर लहरों से कर कौन"—आदि-आदि

अनेक पंक्तियाँ लिखी हैं—यह भी उनकी अपनी कल्पना नहीं । रवींद्रनाथ नदी की कल्पना में 'आकुलि विकुलि शत बाहु तुलि', अन्यत्र 'मेघेरे डाकिछे गिरि हस्त बाड़ाए' आदि बहुत कुछ लिख चुके हैं । पंतजी ने 'वहीं से लिया' जान पड़ता है ।

यही हाल पंतजी के 'सजल'-शब्द का है । बँगला में शायद ही किसी कवि से 'सजल' छूटा हो ।

पंतजी के—

"सजल जलधर से बन जलधार"—में

'सजल'-शब्द 'जलधर' के विशेषण के स्थान में अर्थ की द्युति से रहित हो रहा है। जलधर तो सजल है ही, फिर सजल जलधर क्या? जान पड़ता है. पंतजी ने 'जलधर' के शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया, 'जलधर' को निष्प्रभ काले मेघ का एक टुकड़ा समझकर उस पर 'सजल'-ता की वार्निश कर दी है। पंतजी के 'प्रवेश' में शब्दों के रूप पर जो व्याख्या हुई है, उसके अर्थ से और पंतजी के इस तरह के प्रयोग से साम्य भी है। इसके संबंध में मुझे जो कुछ लिखना है, आगे चलकर इस पर विचार करते समय लिखूँगा।

'राशि-राशि' और उनके 'शत-शत'-शब्दों से जो उच्चारण-सुख हमें मिलता है, इसका कारण हिंदी के कंठ-तालु-दंतोष्ठों द्वारा बँगला अक्षरों के यथार्थ उच्चारण की अक्षमता है। ये दोनो प्रयोग बँगला के अपने, भाषा के प्रचलित मुहावरे हैं। हिंदी में न कोई 'राशि-राशि' कहता है, न 'शत-शत'।

"चले आसे राशि-राशि

ज्योत्स्नार मृदु हासि"—तथा—

"ए आदर राशि-राशि"—आदि से

बँगला में 'राशि-राशि' की अगणित राशियाँ हैं और 'शत-शत' की सहस्र-सहस्र। हिंदी में सबसे पहला 'शत-शत' का प्रयोग शायद मैथिलीशरणजी ने किया है, परंतु उन्होंने

उसके पीछे एक 'संख्यक' जोड़कर उसे हिंदी की रजिस्टर्ड संपत्ति कर लिया। उनके 'पलाशीर युद्ध' के अनुवाद में है—

"शत-शत संख्यक कोहिनूर की प्रभा पाटकर—
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।"

अवश्य 'संख्यक' के न रहने पर 'शत-शत' में कामिनी-सुलभ कोमल सौंदर्य अधिक आ जाता है।

"हरे गगनेर नील शतदल खानि।"

—रवींद्रनाथ

"नभ के नील कमल में।"

—पंतजी

"I laugh when I pass by thunder."

—Shelley

"कड़क-कड़ककर हँसते हम जब थर्रा उठता है संसार।"

—पंतजी

"ये आये वीर बादर बहादर मदन के"

—भूषण

"मदन-राज के वीर बहादुर"

—पंतजी

अब इस तरह की पंक्तियों के उद्धरण और न दूँगा। यदि आवश्यकता होगी, तो इस संबंध में फिर कभी लिखूँगा। यह विचार इस समय स्थगित करता हूँ। मेरा मतलब पंतजी पर अकारण आक्रमण करना नहीं। जिस विषय पर 'पल्लव' के 'प्रवेश' में उन्होंने एक पंक्ति नहीं लिखी—उधर दूसरों

की समालोचना में अत्युक्ति-से-अत्युक्ति कर डाली है, उस विषय का साहित्य में अनुल्लिखित रह जाना मुझे बुरा जान पड़ा, मैंने उसका उल्लेख किया।

अब मैं उन विषयों पर क्रमशः लिखने की चेष्टा करूँगा, जिन पर पंतजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विचार किया है। पहले कवित्त-छंद को ही लेता हूँ। पंतजी लिखते हैं, "कवित्त-छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है। × × × हिंदी के × × स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालन-पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है; छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंदोबद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं; हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्य-पान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त-छंद के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छंद में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है," इस लड़ी को भी सोलह मात्रा के छंद मे रख दीजिए—

"सु कूलन में केलि न में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकंत
बनन में बगरथो (विपुल) बसंत ।"

"अब दोनों को पढ़िए और देखिए, उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छंदों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है। कवित्त में परकीय और मात्रिक छंद में स्वकीय हिंदी का अपना उच्चारण मिलता है।"

कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी का ज्ञान पड़ना आर्यों के आदिम आवास पर की गई आर्यों ही के सृष्टि-तत्त्व के प्रतिकूल अँगरेजों की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य सार पदार्थ नहीं रखता। हिंदी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को एक विशाल भू-भाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, संयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनंद अनुभव करते हैं, जिसके समकक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझें। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि

नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की ममता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रहा हो, परंतु समय के प्रवाह ने हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पंतजी ने जो कवित्त-छंद को हिंदी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलनेवाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद वह लगा नहीं सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने का कारण—उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान छंद के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं। अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन-प्रधान पुरुष-भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में हो गया है। वह कभी पुरुष-भेद में जा

नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परंतु कवित्त में यह बात नहीं। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनंद कितना बढ़ता है, देखें—

चौताला—

+ १ १ २
। । । । । । । । । । । ।
कू + ऊ + ल + न + मैं + ए + के + ए + लि + न + अ + क

+ १ १ २
। । । । । । । । । । । ।
छा + आ + र + न + में + एं + कु + उं + ज + न + में + एं

+ १ १ २
। । । । । । । । । । । ।
क्या + आ + रि + ने + में + एं + क + लि + त + अ + अ + क

+ १ १ २
। । । । । । । । । । । ।
ली + ई + ई + न + कि + ल + कं + अं + अं + त + है + ऐ

जिस "कूलन मे कैलिन कछारन मे कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है" कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी कहते हैं, राग कुंठित हो जाता, सब गुरु और ह्रस्व स्वर आपस में टकराने लगते हैं—केवल एक मात्रा-काल मिलने के कारण उसी छंद के लघु और गुरु-स्वरों को इस चौताल के

अवतरण में देखिए, कोई दीर्घ ऐसा नहीं, जिसने दो मात्राएँ न ली हों. कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ दोनो स्वर प्लुत कर देने पड़े हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वभाव में Female graces की प्रधानता के कारण पंतजी कवित्त-छंद की मौलिकता, उसका सौंदर्य, मन को उस परिस्थिति में ले जानेवाली उसकी शक्ति, उसकी स्वर- विचित्रता आदि समझ नहीं सके।

यही कवित्त-छंद, जिसे आप ४८ मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणों में अलग-अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल-स्वरूप में आता है, उस समय न यह उदात्त भाव रहता है, न यह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप में इस समय के उसके लक्षण बिलकुल नहीं मिलते, उदाहरण—

तीन ताल—

(१६ मात्रा)

० १ +
| | | | | | | | | |
कू + ल + न + में + के + लि + न + क + छा + र +

३ ०
| | | | | | | | | |
न + में + कुं + ज + न + में + क्या + रि + न + में +

+ ३
१ | | | | | | | |
क + लि + त + क + ली + न + कि + ल + कं +
| | |
त + है + ऐ

इस जगह तीन ताल की साधारण रागिनी में कवित्त-छंद का प्रत्येक अक्षर, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा पा रहा है, केवल अंतिम अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं, यह १६+१६ मात्राओं से दोनो लड़ियों को बराबर कर लेने के अभिप्राय से। कवित्त के (१६+१५) से संगीत के समय की रक्षा नहीं होती, इसलिये १५ मात्राओंवाले चरण के अंतिम गुरु अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं। कवित्त का यह स्त्री-रूप है। यह झप तथा शूल में भी दस मात्राएँ लेकर चल सकता है। इसका विश्लेषण यदि कल्पना की दृष्टि से न कर, प्रत्यक्ष जगत् में प्रचलित इसके स्वर-वैचित्र्य की जाँच करने के पश्चात् पंतजी इसके संबंध में कुछ लिखते, तो उन्हें इस तरह के भ्रम में न पड़ना पड़ता।

अब मुक्त-काव्य के संबंध में कुछ लिखना चाहता हूँ। पंतजी लिखते हैं—"सन् १९२१ में, जब 'उच्छ्वास' मेरी कृश लेखनी से यक्ष के कनक-वलय की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम'-जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उस 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रँगीली, छंद स्वच्छंद हैं।' पर उस वामन ने, जो लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढ़नेवाले चाँद को पकड़ने के लिये बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य-वश हिंदी में सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।"

पंतजी की इन पंक्तियों से उनके स्वच्छंद छंद के प्रवर्तन की लिप्सा बहुत अच्छी तरह प्रकट हो गई है। उनके हृदय का दुःख भी लोगों के रचे हुए स्वच्छंद छंद के विकृत रूप पर (जिसे वे ही यथार्थ रूप से संगठित कर सकने का पुष्ट विचार रखते हैं) प्रकट हो गया है, और विना किसी प्रकार के संकोच के अपने सिद्धांत पर प्रगाढ़ विश्वास रखते हुए स्वच्छंद हृदय से घोषित कर रहे हैं कि दूसरों के स्वच्छंद छंद की हरियाली पर उन्हीं के 'उच्छ्वास' के प्रपात का पानी पड़ा है, अथवा स्वच्छंद छंद की अनुर्वर भूमि उन्हीं की डाली हुई खाद से उपजाऊ हो सकी है—उधर 'उच्छ्वास' के प्रथम मेघ से उस पर पानी भी उन्होंने ही बरसाया; और चूँकि 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उनके 'उच्छ्वास' की लड़ियों को स्वच्छंद छंद स्वीकार कर लिया है, इसलिये वह स्वच्छंद छंद के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता।

इसमें संदेह नहीं कि पंतजी की भूमिका से हिंदी में स्वच्छंद छंद विनोद बाबू का कॉमा (,) हो रहा है। इस 'कॉमा' का इतिहास—

किसी स्टेट में (घटना सत्य होने के कारण स्टेट का नाम नहीं लिया गया) विनोद बाबू, एक बंगाली सज्जन, नौकर थे। हेड क्लर्क थे। सब ऑफिसरों को विश्वास था, विनोद बाबू अच्छी अँगरेजी लिखते हैं। ख़त-किताबत का काम उन्हीं के सिपुर्द था। एक रोज़ राजा साहब एकाएक कचहरी में दाखिल

हो गए। सब ऑफ़िसरों ने उठकर उनका यथोचित सम्मान किया। राजा साहब बैठ गए, और लोग भी बैठे। मैनेजर साहब विनोद बाबू की लिखी एक चिट्ठी ग़ौर से देख रहे थे। राजा साहब न रहते, तो अवश्य वह उस पर अपने हस्ताक्षर कर देते; परंतु राजा साहब को अपने कार्य की दक्षता दिखलाने के विचार से उन्होंने विनोद बाबू से कहा, यहाँ एक कॉमा लगाना चाहिए। बहुत दिनों से राजा साहब स्टेट की देख-रेख कर रहे थे। परंतु यह श्रुति-मधुर नाम पहले कभी उन्होंने न सुना था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि स्टेट की रक्षा के लिये यह ज़रूर शतघ्नी से बढ़कर कोई महास्त्र होगा। उन्होंने मैनेजर की तनख़्वाह बढ़ा दी। दूसरे दिन मैनेजर के आने से पहले ही वह कचहरी पहुँचे। तब तक विनोद बाबू दो-तीन चिट्ठियाँ लिख चुके थे। मैनेजर की कुर्सी पर राजा साहब को देखकर उन्हीं के सामने हस्ताक्षरों के लिये चिट्ठियाँ रख दीं। उसी तरह ग़ौर स राजा साहब भी चिट्ठियों को देखते रहे (राजा साहब को अँगरेज़ी-वर्णमाला का ज्ञान था)। विनोद बाबू से कहा, देख लो, कहीं कॉमा की ग़लती न हो गई हो। विनोद बाबू ने उस रोज़ तो शांति-पूर्वक सब काम किया, परंतु दूसरे दिन कॉमा के महत्त्व से घबराकर उन्होंने इस्तीफ़ा दाख़िल कर दिया।

इसी तरह हिंदी में स्वच्छंद छंद के कॉमा का प्रचलन करना यदि पंतजी का अभिप्राय है, तो, मैं कहूँगा, आश्चर्य

नहीं, यदि उससे कितने ही विनोद बाबू मजबूर होकर इस्तीफ़ा दाखिल करें।

पंतजी की कविताओं में स्वच्छंद छंद की एक लड़ी भी नहीं, परंतु वह कहते हैं, "'पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छंद में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छंद का भेद, दोनो की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होतीं, तो वह ऐसा न लिखते। 'स्वच्छंद छंद' और 'मुक्त-काव्य' के 'स्वच्छंद' और 'मुक्त' विशेषणों के अलंकारों से यदि उन्हें अपनी शोभा बढ़ाने का लोभ हुआ हो, तो यह और बात है; क्योंकि हिंदी के वर्तमान शब्द-प्रमाद-ग्रस्त अनेक कवि स्वयं ही अपने नामों के पहले 'कविवर' और 'कवि-सम्राट्' लिखने तथा छापने के लिये संपादकों से अनुरोध करने की उच्च आकांक्षा से पीड़ित रहा करते हैं। परंतु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर या आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार!"

जिनकी संख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं में बहुत थोड़ी है—विषम-मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वच्छंद छंद की निराधार नंदन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों में छंद की मात्राओं से

पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छंद भी संगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़कर एक दूसरे छंद के घेरे में, जो इसके लिये अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छंद छंद में 'तार' और 'गार' के अनुप्रासों की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छंदता का सरल सौंदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छंद छंद में art of mnsic नहीं मिल सकता, वहाँ है art of reading. वह स्वर-प्रधान नहीं, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त-छंद से हुई है, जिसे पंतजी विःशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया। मेरे—

''देख यह कपोत-कंठ—
बाहु-वल्ली—कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितंब-भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद.

छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का ;
देवों-योगियों की तो बात ही निराली है।"

इस छंद को, जिसे मैं हिंदी का मुक्त-काव्य समझता हूँ, पंतजी ने रवींद्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्‌भुत"—आदि—

पंक्तियों के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनकी यह रवींद्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कार-जन्य फल हो; परंतु वास्तव में इस छंद की स्वच्छंदता उनकी समझ में नहीं आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्त्व देते, तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कंठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए, कवित्त-छंद के एक चरण का एक टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह 'बाहु-बल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणों की धारा कवित्त-छंद की है, नियमों की रक्षा नहीं की गई, न स्वच्छंद छंद में की जा सकती है। कहीं-कहीं बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य में कवित्त-छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो

जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी--

'उन्नत उरोज पीन'—

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं तो कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों?—यह तो छंद की कम-जोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ; यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे जरा देर के लिये भी नहीं सोचते कि संभव है, हमीं किसी विशेष कारण-वश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरंत अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाए, परंतु कवि

बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वज़न का रक्खे, निवेदन यह है। अन्यथा बुद्धि की इकतरफ़ा डिग्री देने का उन पर दोष लगता है। मेरे 'अमित्र'जी जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं कर सके, इसका मुख्य कारण यही है, उनके हृदय में सहृदयता काफ़ी थी. वेश-वैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फ़िजूलखर्च में नहीं जाने दी। गत वर्ष कलकत्ते में हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाक़ात हुई, और इस अमित्र छंद के संबंध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बात एक हो गई हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हों। गुप्तजी ने कहा, मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त-काव्य हिंदी में कवित्त-छंद के आधार पर ही सफल हो सकता है। गुप्तजी द्वारा किया गया वीरांगना-काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन दिनों, इस अमित्र छंद की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में 'जुही की कली' उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी। गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में बहाव कम था—वह बहाव जैसे

नियम के कारण आए हुए कुछ अक्षरों को—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज़ हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक थे, 'जुही की कली' 'सरस्वती' में छापने के लिये मैंने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होंने उसे वापस करते हुए पत्र में लिखा—आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं, इस छंद को बदल सकें, तो बदल दीजिए।

मेरे पास ज्यों-की-त्यों वह तीन-चार साल तक पड़ी रही। फिर संगीतात्मक विषम-मात्रिक गीति-काव्य में मैंने अपनी 'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक श्रीपदुमलाल पुन्नालालजी बख़्शी बी० ए० महोदय के पास भेजी। पंतजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इसकी भी आलोचना की है, और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे हिंदी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीति-काव्य उनके छंदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है!)। अस्तु। बख़्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा—इसके भाव समझ में नहीं आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ। यह उस साल की बात है, जिस साल पहलेपहल बख़्शीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए थे।

हिंदी-संसार समझ सकता है कि संपादकों की इतनी बारीक

समझ बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय'-वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ('मतवाला' के सुयोग्य संपादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिंदी के स्वनामधन्य लेखक)। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलाई पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी 'जुही की कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजन-सहायजी ने 'माधुरी' के संपादकों के पास भेज दिया, और 'माधुरी' के उस समय के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पांडेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते में पांडेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी। भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वह कलकत्ता गए। और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परंतु मुझे हिंदी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय

है सहृदय साहित्यिक, श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे, श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को। मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिंदी और बँगला की नाट्यशालाओं में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनो भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है। हिंदी के रंगमंचों में अलफ्रेड और कोरिंथियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता था। उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं १६-१७ से अधिक न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छंद की सृष्टि हुई, वह यही है और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इस स्वभाव-वश निश्छल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में 'कुछ है' के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथ-प्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकल-नारायणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण

हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख से सुना है और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

ये सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ़ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिंदी-संसार एक तरफ़ और मैं अपने 'अमित्र' महाशय के साथ एक तरफ़ था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गई है।

अस्तु। वेदों और उपनिषदों में इस तरह के अनेक छंद हैं। छंदःशास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों में भी। जैसे आलाप में ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिये सामने आता है, उसी तरह मुक्त-काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अंदर, बजानेवाले की सुविधा के लिये, बाँध दी जाती है, तब ताल में उसके बँधे रूप का लावण्य रहता है—जैसे एक ही विहंग की वन में स्वाधीन वृत्तियाँ और पींजड़े में ससीम चेष्टाएँ।

वैदिक छंद, अतिछंद और विच्छंद को बहु भेदों में बाँट-कर भी कोई उनके सब छंदों के नामकरण नहीं कर सका। अंत में अनंत भेद (!) मान लिए गए। ठीक ही है, जब सृष्टि में भी 'अगणित' दिखलाई पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गई।

इसी तरह मेरे मुक्त-काव्य में गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त-छंद हिंदी का चूँकि जातीय छंद है, इसलिये जातीय मुक्त छंद की सृष्टि भी कवित्त-छंद की गति के अनुकूल हुई है।

व्रजभाषा के संबंध में पंतजी लिखते हैं—"हिंदी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई; × × × × विश्व-जननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है। × × × मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए हों; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ

'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिरकाल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों × × × × और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत', 'लहत', 'हरहु', 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।"

खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा में जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर ज़ोर दिया है, इसलिये उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ ब्रजभाषा के संबंध में विचार करूँगा।)

पंतजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-संबंध घनिष्ठ है। परंतु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिये विवश होकर प्रेम-संबंध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। संस्कृत का 'धर्म' जब पाली में 'धम्म' बन गया, उस समय 'धर्म' की अपेक्षा

'धम्म' में ही लोगों को अधिक आनंद मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियों ने किसी भी काल में नियमों की परवा नहीं की। वे अपनी आत्मा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गए। कुछ लोगों का कहना है कि समाज ज्यों-ज्यों मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दों की संख्या भी त्यों-त्यों दिन दूनी और रात चौगुनी की कहावत के अनुसार बढ़ती गई। क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप में बदलती चली गई। मैं यहाँ इस मीमांसा से प्राणों की सहृदयता की मीमांसा अधिक पसंद करता हूँ। मेरे विचार से अचिरता की गोद में प्रचलित शब्दों की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य-समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उनका स्नेह अधिक हो जाता है। अथवा उस शब्द का अपर-रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से ब्रजभाषा-काल में शब्दों की जो छान-बीन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा-विज्ञान उन्हें बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या में अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खड़ी बोली की विभक्तियाँ—को, के लिये, से, का, के आदि ब्रजभाषा का हिं, कौं, सें, सों, कँहँ आदि से समता की स्पर्द्धा नहीं कर सकतीं। खड़ी बोली में

एक ही विभक्ति मधुर है—'मैं', परंतु वह भी व्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। व्रजभाषा में की मणि से जैसा सौंदर्य का उज्ज्वल गौरव खड़ी बोली में नहीं मिल सकता। पश्चिमी भाषाओं में फ्रेंच की विजय और स्पर्द्धा इसीलिये है। संस्कृत में भी इसके चढ़ाव से श्री भरी हुई है। उधर व्रजभाषा ने अपनी क्रियाओं के रूपों में भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलाई है। 'लाभ करते' की तुलना में 'लहत', 'मुड़ते' की तुलना में 'मुरत', 'पाते' की अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर हैं। सारांश यह कि व्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है और यों तो अब भी वह जीवित ही है, परंतु खड़ी बोली इस समय भी हिंदी-भाषा का मातृ-गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। पंतजी यदि खड़ी बोली में ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढ़कर हर्ष की बात और क्या हो सकेगी। परंतु जहाँ वह रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहात-वासियों के साथ, अवश्य ही, उन्हें, वहाँ की ही प्रचलित भाषा में बातचीत करना पड़ती होगी, और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, वार्तालाप करते समय, वह कुछ भी विराग दिखलाते होंगे, तो निःसंदेह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणों की सोलहो आने सहृदयता से मिल भी न सकते होंगे। भविष्य में, दो-चार पीढ़ियों के बाद, शिक्षित-समुदाय की एक भाषा अलग हो

जाय, यह बात और है। और, जो लोग मेरठ-सरौडिंग की भाषा के साथ हिंदी में प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिंदी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे, जिन्होंने हिंदी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नहीं बिगड़ने दिया। व्रज-भाषावालों के शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पंतजी को जाड़े की कुक्कुर-कुंडलीवत सिकुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं, और स्वयं जो खड़ी बोली के चिर-प्रचलित 'भौंह'-शब्द को 'भोंह' कर देते हैं. कहते हैं, वह सुंदर बन जाता है।

बात यह कि आज किसी प्रांतीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णता और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिंदी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी में है, तो व्रजभाषा में। व्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्धरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिये व्रजभाषा का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला, तो कभी फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पंतजी लिखते हैं—"अधिकांश भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे

पर रहे, कुछ उसी में बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए, तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। × × × कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडुगन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखना आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तंभ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चंद्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है! × × × उसका (व्रजभाषा का) वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल अनिल-आकाश, ज्योति-अंधकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, × × × सब कुछ समा सके।"

जिनके संस्कार बहुत कुछ अँगरेजी-कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें व्रजभाषा की कविता पसंद नहीं आती, यह

बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि पंतजी ने ब्रज-भाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशों में सत्य है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांगों की उज्ज्वल अँगरेज़ी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगों पर गौरांगों का भाष्य और उस भाष्य पर कृष्णांग बालकों का विश्वास।

भारत-भारती के एक पद्य में है, अच्छा लिखा है दो ही लाइन में कि जिस समय से भारत के पतन का अंधकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलाई पड़ता है। इसलिये भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज़ विद्वान् मैक्समूलर, प्राचीन भारत के कल्पना-लोक में विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नहीं कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बंदूक़ के सामने रखकर भी ज़रा सुन लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुक-देव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव का जीवनी किसी भारतीय से

अविदित न होगी। इन दोनों महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वेदांतिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्'—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन-चपल-गति लोचन लेल"
"चरन-चपलता लोचन लेल"

का लोभ पंतजी संवरण नहीं कर सके, और अपने गद्य में भी—

"पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई" द्वारा भावानुसरण की चेष्टा की, वह विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वह अपने किसी भी समानधर्मा से घटकर न होंगे—

"दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन;
बाढ़ल नितंब माझ भेल खीन।"

"थरथरि काँपल लहु लहु भास ;
लाजे न बचन करए परकास।"
"नीबिबंधन हरि काहे कर दूर ;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।" आदि-आदि

अश्लील-से-अश्लील वर्णन उन्होंने किए हैं। यही हाल बँगला के प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा, जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर-रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वह अश्लील नहीं हो सके। इधर व्रजभाषा में भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नहीं किया गया।

भारतवर्ष और योरप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवींद्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार में, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार ज़्यादा रहती है। परंतु भारतवर्ष में विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक देख पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवास नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान-उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितना चुभती है, वहाँ की उपमा उतना घाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ दैवी शक्ति है और वहाँ आसुरी ; इसलिये यहाँ की कविता में

एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। यदि तुलसी-कृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े। बल्कि मैं तो गोस्वामीजी को महासौभाग्यवान् समझूँ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शांत रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियों में उमरखैयाम की योरप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन हैं। व्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं, रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में शृंगार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न व्रजभाषा-काल में अँगरेज़ी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न गधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को ज़रूरत मालूम पड़ी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परंतु मियाँ की दौड़ मसजिद तक के अनुसार, व्रजभाषा के कवियों पर वृंदावन, गोकुल, मथुरा और नंदगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। व्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष में अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय मेरुमूल-धर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहों भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहों भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचंद्र को जिस दिन एक पौधे में एक वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्यकर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानंदजी उसके संबंध में कहते हैं, वह इतने उच्च भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता।

कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्व-धर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृंदावन का क़तरा व्रजभाषा के कवियों को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का ज़हर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्रीशिवशेखर द्विवेदी को, जब वह हिंदी की मध्यमा परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नहीं, न वह पद मुझे याद है। अंतिम लड़ी उस पद की शायद यों है—"समझ्यौ सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढ़ाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलाई पड़ी। उस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दाँतों से दृढ़ता-पूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केंद्र के चेतन-स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने

की शक्ति दी गई है, ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण को मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कंपन-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतनवाद है, जिसमें अगणित सौर-संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से विवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हरएक केंद्र में वह चेतन-स्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केंद्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचंद्र के केंद्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—बिना केंद्र के केंद्र को। भारत के सिद्धांत से यथार्थ विश्व-कवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडज राया; देख्यों बहु ब्रह्मांड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वह ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्व-कवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं झोंकते—वह ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते हैं। रवींद्रनाथ का विश्ववाद योरप के सिद्धांत के

अनुकूल है, और उनके ब्राह्मसमाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद उपनिषदों से भी संबंध रखता है। रवींद्रनाथ का 'विश्व'-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नहीं करता। परंतु पंतजी 'विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान्" से, 'विश्व'-शब्द-मात्र से लोगों की नज़र बाँधने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ़ से वही—"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।" पंतजी की 'विश्व-कामिनी' यदि 'विश्व ही कामिनी=कर्मधारय" है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि "विश्व की कामिनी=छठा तत्पुरुष" है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती; विश्व में जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश को, किसी-न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुईं, व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होगी, यह पंतजी ही बतलाएँ।

वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतनवाद या वेदांतवेद्य अनंतवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी, और पंतजी के शब्दों में यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि ब्रजभाषा में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बैल की तरह अंध चक्कर काटते चले गए हैं, वे वास्तव में ग़लती

करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते-लड़ते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अंदर आ गई थी। परंतु दार्शनिक लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्रकृतिवाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हरएक मनुष्य, हरएक प्रकृति, हरएक जाति, हरएक देश दबाव से संकोच-रूप धारण करता है। ब्रजभाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है, तब पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है, और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। ब्रजभाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भराई उससे बहुत लंबी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran"-वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेंट चढ़ाई—

एक-दो नहीं—अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं—उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रजभाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं—चारणों के मुखों में प्रति-ध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग से पार कर गए, और अपने भविष्य-वंशजों के पैरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गए—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अंदर—एक छोटी-सी सीमा में भावों को विशालता ला दी जाय। मथुरा-ब्रज-गोकुल और द्वारका की छोटी-सी सीमा में पंतजी अका-रण भटकते हैं—यह तो कवियों को, भावों के दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिए, 'श्याम' के नाम से न घबराइए—बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप ?—लीजिए—

> "सावन-बहार झूलै घन की घुमंड पर,
> घन की घुमंड पौन चंचला के दोले पै;
> चंचला हू झूलै घन सेवक अकास पर,
> झूलत अकास लाज-हौसले के डोले पै।"

लाज और हौसले के टाले में आकाश भूलता है—समाज और हौसले के आनंद के कंपन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनंद से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—देखिए आकाश-जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे में।

नारियों या नायिकाओं के भेद, रसों के भेद, अलंकारों—भूषणों के भेद, छंदों के भेद, ध्वनियों की परख, कविता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक हो सकता है—आर्य-भाषाओं के किए हुए उन उपायों के अनुसार, व्रजभाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदों पर लिखा, और खूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुंदर विश्लेषण संसार की किसी आर्येतर भाषा ने किया? पंतजी, क्या आप शराब, कबाब और बग़ल में बीवी-वाले कवियों को अश्लील न कहेंगे? यदि कहते हैं, तो योरप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए, जो इन दुर्गुणों से बचा हो, और शृंगार की कविता में बाज़ी मार ले गया हो। व्रजभाषा-वालों ने तो फिर भी कृष्ण-जैसे शृंगार-रस के महापुरुष की आड़ में—उस मदन को मूर्च्छित कर देनेवाले कामजित् आदर्श की शरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया—यह क्या योरप की कविता के बालडांस से भी गया-बढ़ा हो गया?

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णना-शक्ति स्वीकार करता हूँ, परंतु

यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं। जिस दिन हिंदोस्तान में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आएगी—वह स्वाधीन होगा—उस दिन तक योरप के इन भावों की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दुःख है, उस समय मुझे और पंतजी को आलोचना की ये बातें याद न रहेंगी। व्रजभाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड़ दिए गए। मैं यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि व्रजभाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताए हों और वह जाति जाग्रत् होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पंतजी लिखते हैं—"'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख'-शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान

के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँगरेजी का 'wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है, उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पश' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनंद का विद्युत्-स्फुरन् प्रकट होता है। अँगरेजी के 'air' में एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखलाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन'-शब्द मुझे ऐसा लगता है, जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"[1]

पंतजी की इस छान-बीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के श्वेतकमल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी

हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने अरण्य, पर्वत, खोह और कंदराएँ कुछ भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना से आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मंत्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पिया।

परंतु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बँगला के रवींद्रनाथ और अँगरेजी के शैली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परंतु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पंतजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका झुकाव अँगरेजी-शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी दवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किए हुए हैं। धातु-रूप से उनके चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसा पंतजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती; वहाँ एक विशेष बात है, जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पंतजी ध्यान नहीं दे सके। touch के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वर-वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर

की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर और मधुर है। यों तो यहाँवाले 'स्पृश्' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश'-धातु की क्रिया देखिए—'स्' दंतों को स्पर्श कर, 'प्' द्वारा ओष्ठों को—शरीर के सबसे अंतिम उच्चारण-स्थल तक पहुँचकर—स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा स्वर-शक्ति अंतर्मुखी होती है, जैसे उस स्पर्श का संवाद देने के लिये, 'श' से तालु स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है—तालु से उच्चरित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पंतजी जो यह लिखते हैं कि 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वह बहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है, जो भारतीय शब्दों की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समर्थन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं—'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अंतरात्मा से संबंध रखनेवाले अंतरात्मा को ही रूप, रस, गंध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिये 'स्पर्श' होठों से बाहर नहीं जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई, और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पंतजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और 'स्पर्श' का

भी। अंत में जो वह कहते हैं, 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह सिर्फ़ ख़याल है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पंतजी ने भी दिया है—

"घन घमंड गरजत नभ घोरा।"

इन शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपना विशेष अर्थ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से बादलों की गर्जना जैसे हो रही हो—ग. घ. ड. भ. का कोई-न-कोई प्रत्येक शब्द में आया है। फिर—

"प्रिय-विहीन डरपत जिय मोरा।"

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम के हृदय का भय 'डरपत' क्रिया के चित्र-फल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघों में प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय में भय, घबराहट। एक ओर विराट्, दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण, कितना सुंदर निबाह है।

इस प्रसंग में मैं और अधिक उद्धरण न दूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ, यहाँ के शब्दों से, यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पंतजी अपनी कल्पना में पड़कर कितना बड़ा अनर्थ करते हैं, देखें—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत दल-बल-युत घुस वातुल-चोर"

अपनी इन पंक्तियों के संबंध में पंतजी लिखते हैं—

"इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिये मार्ग बनाती है।"

पहला एतराज यह कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिये मार्ग बनाती है, तो सफ़रमैना को पलटन की तरह वह अर्थ की लड़ाई में काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उद्धृत चौपाइयों में देखा गया—शब्द गरजते और काँपते हैं, और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वात-ग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है, क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उड़ाने का कार्य वायु ही करता है, बिना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उड़ाने के कार्य में और-और सहायक आते हैं, जिससे 'दल-बल-युत' के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पंतजी बतलाएँ, उसके ये सहायक और कौन-कौन-से हैं।

चौथा यह कि यदि 'वात-चोर' के कर्मधारय का रूप 'वातुल-चोर' बना है—'वात'-शब्द विशेषण के रूप में 'वातुल' कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, 'वातुल-चोर' द्वारा वात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है।

अब यहाँ से मैं पंतजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ, यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत-से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं, जिन पर कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पंतजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'-शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है—

"अरे, ये पल्लव-बाल !
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार ;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु - डाल ;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल।"

पहले इन दोनो पंक्तियों को देखिए—

"अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !"—

'प्रवाल'-शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवों को ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिए ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं !—इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल'

का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढ़ता हूँ, मुझे 'पंजाब-थिएट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की याद आती है, जो बड़े-बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर, कॉर्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता, और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख-भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ठ संबंध हो गया है, जिसका भूलना मेरे लिये असंभव हो रहा है।

पंतजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलावे, तो हँसेंगे या नहीं। इससे हास्य के सिवा कोई सौंदर्य तो नहीं मिल सकता।

यों दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परंतु यदि पहला प्रवाल छोड़ दिया जाय, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निबाह कर सके।

यह सारा दोष 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए—

"वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं"

"उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं"

दूसरे वाक्य में सौंदर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पंतजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा—

"झलका हास कुसुम-अधरों में
हिल मोती का-सा दाना।"

यहाँ हास फूलों के अधरों पर मोती के दाने की तरह आप ही हिलता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव सुंदर है।

"बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार;
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल-चितवन के बंदनवार;
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक-दृग-द्वार।"

इस पद्य में 'बजा', 'सजा', 'तान' आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं। कलशाकार सटे कुचों को सजाना सौंदर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, और स्त्रियों के लिये कुचों का शृंगार करना प्रचलित भी है. इस दृष्टि से बुरा नहीं हुआ, परंतु दीर्घ साँसों की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य 'ऊँटखाने का मुंशी' 'मुंशीखाने का ऊँट' नहीं हुआ, यह जरूर है कि पंतजी नारी-सौंदर्य के दिव्य भाव पर सफल नहीं हो सके। उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं—जिनमें दिव्य भाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते हैं—

"खैंच ऐंचीला - भ्रू -सुरचाप ,
शैल की सुधि यों बारंबार ;
हिला हरियाली का सुदुकूल ,
झुला झरनों का झलमल-हार ।
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र ,
पलक पल-पल चपला के मार ;
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि ! धर देता है साकार !"

यहाँ जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलाती, झरनों का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौंदर्य वेश्या के सौंदर्य में परिणत होता—बहुत हलका हो जाता है, जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिये वेश-न्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलता, तो सौंदर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुख-चंद्र दिखलाना झरोखे से किसी चंचला नायिका का झाँकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुख-चंद्र आप दिखलाई पड़ता।

सौंदर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके प्रवाह में फ़र्क़ नहीं, कविता की दृष्टि से वह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पंतजी ने कमाल कर दिया है। 'खैंच' और 'ऐंच', 'हिला' और 'हरियाली', 'झुला' और 'झरनों का झलमल', 'पलक'

और 'पल-पल', अनुप्रासों की सार्थकता के साथ, अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अंतिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से-कम 'साकार' को तो ज़रूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, बल्कि अर्थ में एक कदर्थ लाता है।

'उच्छ्‌वास' में जहाँ आया है—

"गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर;
हैं झाँक रहे नीरव-नभ पर;
अनिमेष, अटल कुछ चिंतापर !"

यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं; वाक्य ही असंगत है। आसमान की ओर झाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; झाँकने के लिये पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन पंक्तियों में अभाव है। फिर झाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे? अपरंच, झाँकना चंचलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिंतापर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रहकर', तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक

नहीं बैठती। अतएव ये पंक्तियाँ असफल हैं। इनके बाद पंतजी लिखते हैं—

"उड़ गया, अचानक, लो, भूधर ;
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !
धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !"

पंतजी शायद इन्हीं पंक्तियों के संबंध में लिखते हैं—"इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वतों का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि-आदि अद्भुत रस का मिश्रण है।" पंतजी की इन पंक्तियों में 'अद्भुत-रस का मिश्रण' पहाड़ के लोगों के लिये अद्भुत-रस नहीं।

इन पंक्तियों में अद्भुत-रस का परिपाक बराबर भूमि पर रहनेवालों के लिये अच्छा हुआ है; पर रस ऐकदेशिक नहीं होता।

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चलकर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिये पंतजी की कविताओं की आलोचना स्थगित करता हूँ। पंतजी ने दूसरी-दूसरी

जगहों से जो अच्छे-अच्छे भाव लिए हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध में, बड़े-से-बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं। जब कोई आलोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं। वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिये वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदय-भूमि में बीज-रूप आप ही जम गए थे। उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रस-ग्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है। जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं। इस सत्य को कोई जब चाहे, आजमा सकता है। उदाहरण-स्वरूप, हिंदी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ पंक्तियाँ हजम कर जाने के लिये दे दीजिए। मैं कहता हूँ, उन्हें सफलता हर्गिज़ न होगी। वे किसी तरह उन पंक्तियों को क़ै भले ही कर डालें, पर अपनी तरफ़ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे। यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चीरा तो एक क़तरए-ख़ूँ न निकला' को चरितार्थ करनेवाले आज-कल के छायावाद-अंधकार में बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहले पहुँचने के इच्छुक पाँचवें सवार कवियों की श्रेणी से

अलग, पंतजी साहित्य के एक अलकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गई है। शब्दों को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किए हैं, वही उनकी मौलिकता है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"जननि, श्याम की वंशी से ही
कर दे मेरे सरस वचन;
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मंत्र-मुग्ध नत-फन;
रोम-रोम के छिद्रों से मा,
फूटे तेरा राग गहन।"

तब इन पंक्तियों में एक साफ़ आईने की तरह मुझे पंतजी का हृदय दिखलाई पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा! बिना कानवाले सर्प-साहित्यिक को नवीन युग का कवि मुग्ध करना चाहता है, इसलिये कहता है, मेरे शब्दों को, मा, तू वंशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर, जो बिना कानवाले साँप को सहसा मंत्र-मुग्ध और अवनत-फन कर दें। अपने लिये भी कहा है, वे मुझे वंशी की तरह

जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ। निस्संदेह, हृदय के एसेंस के विना, केवल हाथ की सफ़ाई दिखलानेवाला कवि इतने सुंदर ढग से नहीं कह सकता, और यही पंतजी की मौलिकता है। एक ही अथ को अनेक वाक्यों में, तरह-तरह के शब्दों में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिये आवश्यक है, वह भी पंतजी में है। वह कुशाग्र-बुद्धि और नाज़ुक-अंदाज़ कवि हैं। उनकी इस पंक्ति से—

"उर के दिव्य नयन, दो कान"

जान पड़ता है, हृदय की पहचान उन्हें हो गई है। उन्हें साहित्यिक स्वतंत्रता प्राप्त रहनी चाहिए। यदि कोई इससे इनकार करेंगे, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वयं ही अपनी प्रतिष्ठा घटाएगे। पंतजी की सहृदयता उन्हें उनका अधिकार दिलाएगी। पंतजी के मंडन में मैं बातों-ही-बातों बहुत बहस कर चुका हूँ, जिसे मेरे मित्र, जिनसे मुक़ाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्राय: अधिकांश लोगों ने 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मानने के संबंध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भइ, उसके पीछे एक 'श्री' अपनी तरफ़ से जोड़ लो, अगर तुम्हें यह खटकता है। कविता ख़ुद स्त्रीलिंग है। उसकी स्त्री-सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्राय: खिंच जाते हैं। भाव को रूप देने के वक्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्राय: वही रूप वह भावों को देता है। कोमलता लाने के लिये स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और

कौन-सी कल्पना होगी ? भावों के अलावा पंतजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है। यह भी उनकी मौलिकता ही है। हिंदी के निष्ठुर शब्दों का इसीलिये वे इतना सरस कर सके हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' में कहीं-कहीं जो परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि अब तक शब्दों के कोमल रूपों पर उनकी दृष्टि स्थिर नहीं बैठ सकी; क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा पल्लव में छपने के समय, उन्होंने बिगाड़ दिया है। एक उदाहरण पेश करता हूँ। 'सरस्वती' में छपने के समय उनकी 'स्वप्न'-कविता में एक जगह था—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र - धनुषी - बादल - सा
बदल रहा है रूप अपार !"

पल्लव में छपा है—

"नयनों के लघु - नील - व्योम में
अलि, किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र - धनुषी - बादल - सा
बदल रहा निज रूप अपार !"—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में" जितना अच्छा है, "नयनों के लघु-नील-व्योम में" उतना अच्छा नहीं, यद्यपि दोनो के अर्थ में फ़र्क़ कोई नहीं। 'सरस्वती' मेरे पास नहीं है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रक्खा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। 'है' के प्रति जैसी उदासीनता 'पल्लव' के प्रवेश में पंतजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिये 'पल्लव' में छपने के समय उन्होंने उस जगह 'निज' बैठा दिया है। 'यह' की जगह 'अलि'-शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सरसता ज्यादा मिलती है, क्योंकि उसमें एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत-से परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गए हैं। उनके आँसू में पहले यह था—

"वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,"

फिर 'पल्लव' में छपा—

"वर्ण-वर्ण है उर का कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,"

पहले 'कंपन' और 'दंशन' स्त्रीलिंग में थे, फिर पुंलिंग में हो गए। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गए हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से

जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल में दृष्टिगोचर होगा, तथापि विकास के विचार से, पंतजी का विकास हिंदी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!"—

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नजर से गुजर जाती है, और मैं इसके कवि को उसी क्षण हृदय का सब कुछ दे डालता हूँ। 'पल्लव' में छपी हुई पंतजी की प्रायः सभी कविताओं में जीवन है, परंतु उनमें 'परिवर्तन' मुझे ज्यादा पसंद है। मेरे विचार से 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ, जब पंतजी की ही तरफ़ से उनकी आलोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति में लड़ाता हूँ, तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मुझे कुछ-न-

कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पड़ता। जहाँ तक अच्छी चीज मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोषमय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था—"आप केवल मेरी तारीफ़ किया करते हैं, मेरे दोषों से मुझे परिचय नहीं कराते।" उस समय कुछ साधारण दोषों से उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था, आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानंद के विषय को चुनना प्रकृति के खिलाफ़ हो जाता है—प्रकृति कभी आनंद छोड़ना नहीं चाहती। जिन लोगों को पंतजी की कविता पसंद नहीं आई, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। अस्तु, यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हरएक कृति में विकार रहता है—चाहे वह कालिदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या ईट्स की अथवा पंतजी की हो या 'निराला'जी की, अवश्य कबीर की या तुलसी की नहीं,—वाल्मीकि की या व्यास की नहीं, जिन्होंने आत्मदर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुंदर कृति में विकार-प्रदर्शन का उदाहरण रवींद्रनाथ और कालिदास से न देकर पंतजी को ही उद्धृत करना उचित है। उसी 'परिवर्तन' में एक जगह है—

"सकल रोओं से हाथ पसार,
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार।"

ज़रा साहित्यिक निगाह से देखिए, 'लोभ' के साथ 'लूटने' की क्रिया कितनी असंगत है। 'लोभ' बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ?—वह तो हड़पता है, जटता है, ठगता है, धोखा देता है, ऐंठता है, पर लूटता नहीं, और अगर लूटता है, तो वह 'लोभ' भी नहीं, 'लोभ' की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ? फिर 'हाथ पसार' कर लूटा नहीं जाता, भीख ज़रूर माँगी जाती है। यदि कोई कहे, 'लूटने' का अर्थ 'जटना' या 'ऐंठना' भी होता है, व्यंग्य में, जैसे लुट गए या ठगा गए, उनसे यह एतराज़ है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवीं सदीवाला जोश ग़ायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुमूल के शिथिल हो गई हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर वह भी व्यंग्य-चित्र की ही तरह दिखने लगता है। इस तरह की व्यंजना हिंदोस्तानी दिमाग़ के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे? उनके सनातन-धर्मी गले की मँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या?

यह कहा जा चुका है, यदि पंतजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय, तो वह मधुरता है। हिंदी में मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अंदर से नहीं प्रकट हुआ। कारण, छान-बीन में मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरों के

ही हक़ में चला जाता है; परंतु फिर जो कुछ भी उनके लिये रह जाता है, निहायत सुंदर, बिलकुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह क़रीब-क़रीब ३० विषय मैंने चुने थे। परंतु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुल विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जी ऊब रहा है। इस आलोचना में जहाँ-जहाँ मुझे पंतजी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई है। आलोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आ जाते हैं। पहले एक बार और पंतजी के संबंध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परंतु मैंने उनका उल्लेख नहीं किया। पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब 'भावों की भिड़ंत' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियाँ दिखलाई थीं, उसके बाद जब 'नवीन'जी से मेरी मुलाक़ात हुई, पंतजी के संबंध में मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमजोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अतएव, बहुत-सी बातों

को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी सलाह ले लेते, जब कि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को किसी तरह नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक संसार में यद्यपि १००० में ९९९ इस तरह के दृष्टांत मिलते हैं कि लाग और सब तरह की कमज़ोरियाँ स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, परंतु बुद्धि की स्पर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नहीं समझता, चाहे वह महामूर्ख ही क्यों न हो, तथापि, पंतजी-जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमज़ोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिये साधारण अपराध है। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ़ इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेक़सूर 'निराला' को मारा, और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंयत अन्याय के रूप में दिखलाई पड़ा। मैं अपनी कविताओं के संबंध में काफ़ी इज़्हार दे चुका हूँ। इधर पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो, यदि इस कार्य का भार पंतजी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से

तूण को ख़ाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने संबंध में चुप रहना उचित समझता हूँ।

'परिवर्तन' को छोड़कर पंतजी की अन्यान्य कविताएँ जो 'पल्लव' में आई हैं, जितनी मधुर हैं, उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है। हिंदी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी ज़रूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत-से-उन्नत विचार कला के मार्ग से चलकर दे सके।

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में
मौन-मुकुल, अलि-गुंजन में ;
इंद्र-धनुष में, जलद-पंख में
अस्फुट बुद्बुद क्रंदन में ;
खद्योतों के मलिन-दीप में
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में ;
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन में।

इन पंक्तियों में जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश को कवि अनेक स्थलों की मधुरता में व्यंजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौंदर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश को कवि अन्य वस्तुओं तथा विषयों

पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियों में उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट में शक्ति ज्यादा आ गई है। पाठक सजावट में इतना झुक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिये वह उठ नहीं सकता। साफ़ जान पड़ता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्बुद-क्रंदन' में लीन है. उतना 'प्रकाश' में नहीं, इसीलिये पाठक भी उधर ही झुकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नहीं— अतएव व्यंजना उसी की ज़बरदस्त चाहिए थी।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया;
बाले! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।"

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे, तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गए? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या

होगा ?—'बाला' को, छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसंद होगी ? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रेयसी और अभीष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उससे छेड़-छाड़ तभी तक अच्छी लगती है, जब तक उसका भी उस छेड़-छाड़ से मनोविनोद होता है। यदि उससे जबरदस्ती की गई, तो साहित्य में उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ़ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परंतु जहाँ पंतजी लिखते हैं—

"कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,

बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।"

यहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज था, यहाँ वे ही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यंत सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गए हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोढ़ा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरों को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है— फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौंदर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

"दिवस का इनमें रजत-प्रसार,
उषा का स्वर्ण - सुहाग;
निशा का तुहिन-अश्रु-शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुंदरता की आग।"

पल्लव के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणों से मिलकर एक हो गई हैं। परंतु दिवस, उषा, निशा और साँझ का

क्रम ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परंतु स्वाभाविक। यहाँ असीम के संबंध की कोई बात नहीं। केवल कला ही अपना सौंदर्य प्रदर्शन करती है।

पंतजी 'है' को कविता से निकाल देने के लिये कहते हैं। कहते हैं, इसे माया-मृग समझकर कविता की सीता के पास न आने देना चाहिए। परंतु सब जगह यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर 'है' ही एक हृदय तक धँसकर उसे कमज़ोर करता और करुणा को उभाड़ता है—जैसे—

"कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं, यह हृदय-हार !!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका, अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधों के लिये भी तो अहा,
हो गया संसार कारागार है !"

पंतजी की एक कविता 'विश्ववेणु'-शीर्षक है, उसी में एक जगह है—

"हर सुदूर से अस्फुट-तान ,
आकुल कर पथिकों के कान ,
विश्ववेणु की-सी झंकार ,
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुँचाती अनल के द्वार ।"

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का खुलासा अर्थ है संसार की मधुरता, जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य में, 'विश्ववेणु की-सी झंकार (हैं हम)" यानी हम (विश्ववेणु) विश्ववेणु की-सी झंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा में फिर विश्ववेणु का लाना ठीक नहीं हुआ।

माधुर्य में पंतजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'वीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमंत्रण' आदि कविताएँ हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हद दर्जे को पहुँच गया है।

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके !
तरुवर से मृदु-मंगल-गान ,

मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान ;
हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्द्धान !"

× × ×

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के-से मृदु-उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास
न-जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !
क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब बात
सिंधु में मथकर फेनाकार :
बुलबुलों का व्याकुल-संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न-जाने, मुझे बुलाता मौन !

× × ×

अलि ! क्या कहती है प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश

पर, मेरे तम-पूर्ण हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत - प्रकाश।

इन पंक्तियों में सौंदर्य के सहस्र दल को अपनी प्रतिभा के सूर्य से पंतजी ने पूर्ण प्रस्फुट कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पंतजी गिर गए हैं। मैं जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इंद्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने में दूसरों की सहायता के लिये उत्सुक रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नहीं। दुःख है, हिंदी-साहित्य में ऐसे रत्न के भी जौहरी नहीं। पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्यक्रूर वक्र दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा धारण कर सकते हैं।

परिवर्तन के बाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नहीं, फिर भी पंतजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसंद आई। उसमें अकारण विशेषणों का लदाव नहीं, और प्रकाशन बड़ा ही जबरदस्त है।

"कभी तो अब तक पावन प्रम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज,
हाय! क्या गंगा-जल की धार!!
हृदय! रो, अपने दुःख का भार!
हृदय! रो, उनको है अधिकार!